दलित लेखन की चेतना से किन्हें परेशानी है!

यह लेख हंस के किसी अंक में प्रकाशित है

आज पूरी दुनिया में बदलाव की नई हवा चल रही है। सभ्यता और संस्कृति के जटिल सवालों की पुरानी गुत्थियाँ खुल रही हैं तो उसके स्थान पर कदाचित उससे भी अधिक खतरनाक नई गुत्थियाँ बन भी रही हैं। हमारे हिंदी समाज में स्थिति और भी भयानक है। पुरानी गुत्थियाँ खुल नहीं रही हैं और नई गुत्थियाँ तेजी से बन रही हैं। पुरानी गुत्थियों को खोलने से अधिक उसे बनाये रखने में जाने-अनजाने प्रत्येक क्षेत्र की देशी-विदेशी सत्ताएँ अपने-अपने तरीके से दिलचस्पी ले रही हैं। इतिहास गवाह है कि देश को बाहरी औपनिवेशिक दासता में जकड़नेवाले विदेशी अंगरेजों और देश को आंतरिक औपनिवेशिक दासता में जकड़ रखनेवाले देशी प्रभुओं के बीच कैसी कूट और कुटिल समझदारी विकसित हुई थी। असल में यह सत्ता और सत्ता के बीच का संबंध है। देशी और विदेशी जैसे विशेषण सिर्फ भरमाने के लिए होते हैं। यह याद रखने की बात है कि भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष समस्त अंगरेज जाति के विरुद्ध समस्त भारतीयों का संघर्ष नहीं था। यह अंगरेज जाति की औपनिवेशिक शक्ति के विरुद्ध उन भारतीयों का संघर्ष था जो एक साथ बाहरी और भीतरी दोनों ही प्रकार की औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के लिए आग्रहशील थे। भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के दिनों में भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के समर्थक अंगरेज जाति के लोगों में भी थे और विरोधी भारतीयों में भी थे। देशी-विदेशी सत्ताओं के स्वार्थ-सूत्रों की जटिलताओं की नई गुत्थियाँ हिंदी समाज की चेतना पर छाई रही है। होना यह चाहिए था कि विभिन्न क्षेत्र की देशी सत्ताएँ इस बीच पुरानी गुत्थ्यियों को खोलने में और नई गुत्थ्यियों को बनने नहीं देने में अपनी मानवीय मेधा का इस्तेमाल करती। लेकिन ऐसा नहीं हो रहा है। इसका कारण शायद सत्ता के स्वभाव में ही निहित है। यह सत्ता का स्वभाव ही है कि वह जीत चुके दुश्मन सत्ताधीश को

भी साधारण जनता से अधिक सम्मान की दृष्टि से देखती है। सुना है युद्ध जीत लेने के बाद सिकंदर ने पुरू से पूछा था कि उसके साथ क्या सलूक किया जाये और जवाब में पुरू ने कहा था वैसा ही जैसा एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है। पता नहीं यह कितना सच है, लेकिन अगर झूठ भी हो तो साधारण जनता से किसी राजा के द्वारा ऐसा पूछे जाने की कोई झूठी कहानी भी सुनने को नहीं मिली। क्योंकि जनता से किया जानेवाला सलूक तो अंततः एक-सा ही होता है ! जाहिर है दुनिया भर के सत्तावर्ग में अपने हित-संरक्षण के मामले में समान मनोवृत्ति सक्रिय रहती है। सभ्यता और संस्कृति की गुत्थियों का बहुत बुरा असर पड़ता है, सामाजिकता पर। सत्ता और सामाजिकताएँ, कभी अगोचर तो कभी गोचर रूप से, आपस में भिड़ती रहती है। ध्यान में रहना ही चाहिए कि सत्ता अपने स्वभाव से ही भूमंडलीय व्याप्तिवाली होती है। राजा का राज चाहे जितना कम भूगोल घेरे उसको प्रसन्न रखने के लिए प्रयासरत लोग उसे जगदीश्वर ही बताते और मानते हैं। सामाजिकताएँ अपने स्वभाव से ही स्थानिक होती है। आज के संदर्भ में ग्लोबल और लोकल के संघर्ष का एक संदर्भ सत्ता और सामाजिकता के संघर्ष से भी जुड़ता है। यहीं एक बात और ध्यान में रख लेनी चाहिए कि बड़ी सत्ताएँ छोटी सत्ताओं को व्यावहारिक रूप से अपनी अधीनस्थ सामाजिकता ही मानती है। सत्ता का सथाई समादर उसे कभी नहीं प्रदान करती है। उदाहरण के लिए विश्व नेताओं के लिए विकासशील देश किसी प्रकार की सत्ता नहीं महज एक सामाजिकता ही हैं।

जो हो, हमारी चिंता यहाँ हिंदी सामजिकताओं के विभिन्न संदर्भों में पुरानी गुत्थियों और नई गुत्थियों को समझने एवं साहित्य के प्रसंग में रचनाशीलता के दायित्वों तक ही सीमित है। भारतीय समाज की पुरानी बहुत पुरानी रसौली को हम दलित समस्या के नाम से जानते हैं। यह दुखद ही है कि आज भी इस समस्या के हल हासिल करने के लिए हिंदी समाज पूरे मन से तैयार नहीं हो पा रहा है। साधारण या कम पढ़े-लिखे लोगों की ही बात नहीं है। पढ़े-लिखे लोगों के मन की बात है। वर्ग-स्वार्थ के अलावे भी इसके कारणों की खोज की

जानी चाहिए। पहली नजर में तो यह भी लगता है कि उच्च वर्ण से संबंधित वे लोग भी जिन्हें वर्ग-स्वार्थ के कारण स्वाभाविक रूप से दलित-स्वार्थ के निकट होना चाहिए या हैं, वर्गीय आधार को अस्वीकृतकर उभरती हुई दलित संदर्भ की इस प्रतिरोधी चेतना को प्रतिशोधी चेतना मानकर भीतर से बहुत डरे हुए हैं। सवर्ण बुद्धिजीवी दलित साहित्य में कचास आदि की बातें चाहे जितनी ताकत से कहें दलित चेतना की संघटित हो रही राजनीतिक ताकत का पुरजोर एहसास उनको भी है। वे यह भी बखूबी जानते हैं कि राजनीतिक चेतना के शक्ति में बदल जाने की स्थिति से साहित्य में कचास आदि की तमाम कसौटियाँ उसी प्रकार निरर्थक हो जायेंगी जैसी बदली हुई परिस्थिति में संस्कृत काव्य-शास्त्र के कई महत्त्वपूर्ण संदर्भ भी अंतत: निरर्थक होने से बचाये नहीं जा सके। सच तो यह है कि इस डर के कारण ही दलित सवाल के उठते ही सवर्ण मेधा बौखला जाती है। दूसरी बात , संवेदनशील और व्यापक अर्थ में प्रगतिशील सवर्ण इस बात से भी बौखलाये हुए हैं कि वे चाहें या न चाहें सवर्णों की हिंदुत्ववादी जिस प्रतिनिधि राजनीतिक शक्ति के साथ उनको जोड़ दिया जाता है उसके मनुष्य विरोधी होने की बात उनके मन में गहरे जमी हुई है। वे इस राजनीतिक शक्ति और चेतना से विजड़ित किये जाने की स्थिति से भी बहुत विचलित होते हैं। तीसरी बात, संवेदनशील सवर्ण के सामने अपने तथाकथित संस्कारों या कु-संस्कारों से सतत आंतरिक आत्म-संघर्ष (सामाजिक संघर्ष वे चला नहीं सकते। और जो आंतरिक आत्म-संघर्ष सामाजिक आत्म-संषर्ष की सक्रियता में शीघ्रता से बदल नहीं जाता है, वह अ-क्रिय आंतरिक आत्म-संघर्ष स्वाभाविक रूप से अविश्वसनीय हो जाता है।) की व्यावहारिक विश्वसनीयता बहाल रखने की चुनौती के अलावे एक बड़ी कठिनाई यह है कि दलितवादी दलितों की नजर में अपने सवर्ण होने के अर्थ को उसी तरह बदल नहीं पाते हैं, जैसे अपने दलित होने के अर्थ को हिंदुत्ववादी सवर्णों की नजर में दलित नहीं बदल पाते हैं। यह दुष्चक्र है। यानी अपने मूल्यांकन के लिए जिस आधार को नकारा जाता है, दूसरों के

मूल्यांकन के लिए उसी आधार को दृढ़ता से स्वीकार लिया जाता है। इस दुष्चक्र को तोड़े बिना विमर्श आगे बढ़ ही नहीं सकता है।

यह डर ही है कि दलित लेखन के संदर्भ में सहानुभूति बनाम स्वानुभूति के द्वंद्व को समझने-समझाने के लिए घोड़ा पर लिखने के लिए घोड़ा होना जरूरी नहीं है जैसी बात कही जाती है। इस रूपक के नव्य-न्याय का तर्क इतना दमदार नहीं है कि इससे सहानुभूति बनाम स्वानुभूति के द्वंद्व की गुत्थी खुल जाये। इस नव्य-न्याय का तर्क सामने रखने के बाद शीघ्रता से नैय्यायिक लोग भावानुप्रवेश जैसे महत्त्वपूर्ण साहित्य-मनोवैज्ञानिक सूत्र का सहारा लेते हैं। यह भावनुप्रवेश क्या है? यही न कि जो वह नहीं है, मनोवैज्ञानिक रूप से वह होकर उसके हृदय में उठ रही भावना को स्वर दे? इसके अतिरिक्त भावनुप्रवेश का कोई अर्थ हो नहीं सकता। भावानुप्रवेश के माध्यम से घोड़ा पर लिखने का अधिकार मिलने की शर्त यह है कि आप घोड़ा बनने के लिए तैयार ही नहीं हैं, बल्कि अधिकतम संभाव्य स्तर तक घोड़ा बनने में सक्षम और ईमानदार भी हैं। घोड़ा के दुख पर लिखेंगे और घोड़ा बनना भी नहीं चाहेंगे! यह नहीं चलेगा। क्या सचमुच दलित संदर्भ पर लिखना और घोड़े के बारे में लिखना एक ही बात है? क्या दलित भी घोड़े की ही तरह होते हैं? और चाहे जो हो, यह विमर्श की तरकीब तो नहीं हो सकती। ‘बड़े लोग’ लिखें इस पर दलित को क्या एतराज हो सकता है? लेकिन ‘बड़े लोग’ अपने लिखे को ही दलित साहित्य के रूप में भी माने जाने के लिए दलितों पर किसी प्रकार का बौद्धिक दबाव बनायें इसका क्या औचित्य हो सकता है? यदि वे सवर्ण रचित साहित्य को अपना साहित्य नहीं मानते हैं, तो यह अफसोस की बात तो हो सकती है, क्रोध या उपहास की बात कैसे हो सकती है? हो सकता है साहित्य का जन्म अंतर्सूझ से होता हो, अंत:प्रज्ञा से होता हो, वेदना से होता हो और भी बहुत सारे स्रोतों से साहित्य बनता हो लेकिन अगर कोई दलित उसे अपने श्रम से जोड़ता है, अपनी पीड़ा से जोड़ता है, अपने अपमान

से जोड़ता है तो किसी को क्यों आपत्ति हो? दलित चेतना से परेशानी तो उन्हें होनी चाहिए जो शोषण के पक्षधर हैं। जो शोषण के किसी भी रूप के पक्षधर नहीं हैं, उन्हें कैसी परेशानी! मुक्तिबोध ने यही कहा था न!

साहित्य का संबंध दुख से स्वत: सिद्ध बात है। धूमिल ने झूठ थोड़े न कहा था कि लोहा का स्वाद लुहार और घोड़े, जिसके मुँह में लगाम होती है, के लिए एक ही नहीं होता है। दुखी तो सभी हैं। घोड़ा भी और घुड़सवार भी। लेकिन घोड़ा और घुड़सवार का दुख हर बार एक ही हो, यह कैसे हो सकता है? इसलिए दलित लेखन के संदर्भ में स्वानुभूति और सहानुभूति का मुद्दा घोड़ा पर लिखने के नव्य-न्याय का तर्क दमदार नहीं है। दलित समस्या अवधारणाओं के आधार पर नहीं सामाजिकता के अंदर सम्मान के अवसर की परित्यक्त मनोभूमि की पैमाइश से ही कुछ हद तक समझ में आ सकती है। स्वानुभूति के अभाव की प्रतिपूरक ही सहानुभूति हो सकती है, विस्थापक नहीं। कहना न होगा, सहानुभति वस्तुत: स्वानुभूति का ही विस्तार है, एवजी नहीं। जाके पैर न फटे बेवाई, वो क्या जाने पीर पराई तो बाबा तुलसीदास भी कह गये हैं। यदि दलित-समाज को लगता है कि उनके दुख का उतना निदान भी इस सहानुभूतिमूलक साहित्य से नहीं हुआ जितना कि साहित्य से सामान्यत: संभव हुआ करता है और इसलिए वे अपना साहित्य खुद लिखना चाहते हैं या लिख रहे हैं तो किसी को इसमें क्या आपत्ति हो सकती है? अंगरेजी की सामर्थ्य से विमोहित लोग गाहे-ब-गाहे वर्नाक्युलर अर्थात देशी भाषा साहित्य को इसी तरह से लेते हैं। इस कारण से तो देशी भाषा साहित्य की उपादेयता हमारी नजर में कम नहीं हो गई है। आजादी के इतने दिनों के बाद भी हिंदी समाज में दलितों की सामाजिकता के अपने सवाल हजारों वर्ष पुरानी गुत्थियों से प्राणरस ग्रहण कर रहे हैं तो क्या कहा जाये! दुख को तर्क से व्याख्यायित किया जा सकता है लेकिन जरूरी नहीं कि वह व्याख्या संवेदना का हिस्सा बन ही जाये। कुछ विद्वान कहते हैं कि दलितों पर

लिखनेवाले भूतपूर्व दलित हैं। उनकी स्वानुभूति मृत है! सिर्फ स्मृति का हिस्सा! अब इस तरह की बातों को गंभीरता से लेने की जरूरत इसलिए है कि बहुत सारे भूतपूर्व गरीब हैं जो गरीबी पर लिखते हैं और प्रामाणिक लिखते हैं। पूछने पर यह भी बताते हैं कि दरिद्रता पर लिखनेवाले सारे के सारे नहीं तो प्रथम सौ-पचास लोग तो किसी भी दृष्टि गरीब या दरिद्र नहीं थे। क्या मजा है! भूतपूर्व दलित लिख नहीं सकते क्योंकि उनकी स्वानुभूति मृत है, लेकिन जो दलित नहीं हैं वे लिख सकते हैं क्योंकि साहित्य सहानुभति का मामला है। गोया, सहानुभूति तक मृत स्वानुभूति के प्रसार का कोई रास्ता ही नहीं है! यानी यह कि चित्त होने पर मैं जितूंगा और पट होने पर तुम हारोगे, तात्पर्य चित भी मेरी और पट भी मेरी! असल में यह सवर्ण डर है जो बुद्धि और चेतना को कुतर्क के पथ पर भटकाता है। इस डर को पहचानने की जरूरत है। डर को पहचानेंगे नहीं तो डर से लड़ेंगे क्या?

दलितों के दुख को नहीं समझा गया तो हिंदी सामाजिकता को विनाश और भारतीय संस्कृति और राष्ट्र को नव-साम्राज्यवाद के विस्तार की आकांक्षा से उपजी फासीवादी बर्बरता, जिसका एक सिरा पुरातन धर्म से जुड़ा है तो दूसरा सिरा नूतन पूँजी-बाजार से जुड़ा है, की चपेट में आने से कोई नहीं बचा सकता है। वैसे भी, नाना ऐतिहासिक कारणों से हिंदी समाज में जातीयता के आधार पर समूह बनने की किसी भी संभावना के नहीं होने के कारण धर्म के आधार पर ही समूह बनता है और सांप्रदायिकता को सामाजिक आधार प्रदान करता है। हिंदी समाज इस अनुचित आधार पर बँटकर पहले से लहुलुहान है। दलित-चेतना के विश्वसनीय वर्गीय आधार की शीघ्र तलाश न की जा सकी तो हिंदी समाज के आंतरिक विभाजन के पाट को और फैलने से रोकना बहुत ही मुश्किल होगा। इस तलाश के लिए दलित दुख को महसूस करना होगा। इस दुख को महसूस करने और करवाने में साहित्य की आज बड़ी भूमिका है। इसके लिए जरूरी है कि किसी संकीर्ण और कदचचित उससे भी अधिक तात्कालिक

राजनीतिक लाइन से थोड़ा अलग होकर भी सोचने की जरूरत है। रघुवीर सहाय को याद करें तो इससे काम नहीं चलेगा, कि बाम्हन बाम्हन और कायथ कायथ रहे / पर जब कविता लिखे तो आधुनिक / हो जाये ।

हिंदी समाज में क्या है दलितों का दुख? इस सवाल पर विचार करने के पहले यह विचार कर लेना जरूरी है कि क्या होता है दुख। सत्ता का अभाव ही दुख है। सत्ता के तरह-तरह के रूप हैं। अंतर्वस्तु लेकिन एक ही। इच्छित परिणाम को हासिल करने की क्षमता सत्ता की अंतर्वस्तु है। अब अगर दलितों के दुख को समझना है तो उस इच्छित परिणाम को जानना होगा जिसे दलित हासिल करना चाहते हैं। देखना तो यह भी होगा कि क्या उनके इच्छित परिणाम शेष हिंदी समाज के इच्छित परिणाम से गुणात्मक रूप में भिन्न और व्याघाती हैं या शेष हिंदी समाज के इच्छित परिणाम में ही शामिल किये जाने की माँग है। यह भी कि ये इच्छित परिणाम गुणात्मक रूप कितनी दूर तक सहज मानवीय आकांक्षाओं के विस्तार हैं। दलितों के इच्छित परिणाम बहुत दूर तक सहज मानवीय आकांक्षाओं के ही विस्तार हैं। यह सहज मानवीय आकांक्षा है, समान सामाजिक-सम्मान के साथ सामाजिक रूप से विकास करने के अवसरों की समता को हासिल करवानेवाले संदर्भों में किसी भी प्रकार के आधार पर भेदभाव के बिना स्वाभाविक हिस्सेदारी। यह इच्छित परिणाम राज से अधिक समाज से संबद्ध है। इसलिए दलितों के इच्छित परिणाम का संबंध समाज के मन से अधिक है। दलितों के इस इच्छित परिणाम पर दुहरा संकट है। एक स्तर के संकट का संबंध अर्थ से है तो दूसरे का संबंध हिंदु धर्म के वर्णवाद पर तय जातिवाद की जीवित रूढ़ियों से है। बल्कि ये रूढ़ियाँ ही सबसे बड़ा अवरोधक हैं। दलित साहित्य इन रूढ़ियों को तोड़ने के लिए सामाजिक सत्ता हासिल करना चाहती है तो यह शेष साहित्य की सामाजिक आकांक्षा के सातत्य में ही समझे जाने लायक है। यह अलग बात है कि इस समय, बौद्धिक और सामाजिक उत्तेजना के कारण इस सातत्य को ठीक से पहचान नहीं पाने के कारण दलित साहित्य इससे अपना संबंध स्थिर नहीं कर पा रहा है।

इच्छित परिणाम सब समय हासिल नहीं होते हैं। उसमें भी साहित्य के इच्छित परिणाम के पूरे होने की तो संभावना बहुत ही क्षीण होती है। साहित्य के पास सत्ता होती नहीं है। साहित्य के पास सत्ता समाज से प्राप्त होती है। समाज ने अपनी सत्ता का समस्त राजनीति को सौंप दिया है। प्रत्येक साहित्यकार को यह गाँठ बाँध लेनी चाहिए कि जिस प्रकार समाज की संरचना किसी एक ही स्तर पर प्रभावी नहीं रहती है उसी प्रकार न तो परंपरा का ही कोई एक ही स्तर होता है और न साहित्य की संरचना का ही। सारे साहित्यकार एक ही तरह के नहीं होते हैं। उनमें अंतर करने की रणनीति तो होनी ही चाहिए। पूरी सहमति हो, यह तो कतई जरूरी नहीं है। प्रेमचंद हों कि निराला हों या कोई और साहित्यकार कोई अपने आप में पूर्ण नहीं होता है। उनकी भी अपनी सीमाएँ होती हैं। ऐसा नहीं होता तो आगे लोग लिखने का काम ही क्यों करते? अपूर्णता और असहमति के रचनात्मकबोध के बिना तो रचना प्रयास ही नहीं हो सकता है। जब वे पूर्ण नहीं थे, असीम नहीं थे तो उनसे किसी की सहमति ही कैसे पूर्ण और असीम हो सकती है? तब दलित साहित्यकार यदि उनके साहित्य पर सवालिया निशान लगाते हैं तो क्या बहुत बड़ा अपराध करते हैं? यहाँ एक खतरनाक गुत्थी है। इसे बहुत सावधानी से खोलने की जरूरत है। अपराध बड़ा इसलिए लगता है कि हम उनके सवाल को उनके दलित होने से जोड़कर ही देख पाते हैं। कहीं न कहीं प्रेमचंद, निराला आदि पर अधिकार और उत्तराधिकार के मामले में 'हम' अपने हक को 'उनके' हक से बीस मानते हैं। हमें लगता है यह हमारे हैं जिस पर कोई बाहरी अर्थात अनधिकारी आदमी आक्रमण कर रहा है। हमारे मूल्य को अवमूल्ययित करने पर आमदा हो रहा है। ध्यान रखना चाहिए कि वे जिस हिंदी समाज में समता की मौलिक आकांक्षा के साहित्यिक वितान के पूर्वपुरुष हैं उस हिंदी समाज के हर सदस्य का उन पर बराबर का अधिकार है। डर के घेरे से बाहर निकलकर यह मानना चाहिए कि किसी को भी अपनी विरासत को निर्मम होकर, मम को भी ममेतर के प्रसंग से जाँचने-परखने का

अधिकार है। इससे विरासत की मूल्यवत्ता कभी कम नहीं होती है। विरासत का कोई विकल्प नहीं होता है। विरासत चाहे वह अच्छा हो या बुरा उसे उठाकर एकदम से फेंक देना संभव नहीं होता है, बहुत हद तक जरूरी भी नहीं। उसमें रचनात्मक नवोन्मेषण का काम सतत जारी रहना चाहिए, हर हाल में।

हिंदी साहित्य में दलित चेतना के नये प्रयास की यह पहली उठान है। एक सामाजिक असंतुलन से लड़ते हुए दूसरे असंतुलन के भँवर में फँस जाने का खतरा तो बराबर बना ही रहता है। इस पहली उठान में भी यह खतरा कम नहीं है। दलित साहित्यकारों को अतीत की चीर-फाड़ से अधिक इस समय दरपेश समस्याओं को उनके संदर्भ में पकड़ने की कोशिश करनी चाहिए। जिन्हें वे सीधे-सीधे अपने से अलगा देने की कोशिश कर रहे हैं, उनके बारे में एक मिनट रुककर इतना तो सोच ही लेना चाहिए कि किसी भी स्तर पर वे कहीं उनके ही तो नहीं हैं जो किन्हीं कारणों से और इन कारणों में एक कारण उनके सवर्ण होने की निर्विकल्प स्थिति भी हो ही सकता है, पूर्णकाम नहीं हो सके! दलित साहित्यकार जिस सामाजिक समस्या को लेकर संघर्षशील हैं, वह समस्या इतनी आसान नहीं है। प्रेमचंद की कहानी 'ठाकुर कुआँ' पढ़कर किसी को लग सकता है कि अमुक पात्र को वैसा नहीं, ऐसा आचरण करने की छूट रचनाकार को देनी चाहिए। यह छूट देने से क्या समस्या का निदान हो जाता! ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' पढ़कर कई संदर्भ में मुझ जैसे पाठक को लग सकता है कि वाल्मीकि जी को वैसा नहीं, ऐसा आचरण करना चाहिए था। लगने का क्या है, लग तो कुछ भी सकता है। साहित्य का काम हडबड़ी में नहीं होता है। प्रगतिशील आंदोलन और लेखन कभी इसी तरह की बेचैनी में था कि क्रांति अब हुई की तब हुई! लेकिन क्रांति नहीं हुई! प्रगतिशील साहित्य के मन में भी कहीं न कहीं यह बात थी कि चूँकि परिष्कृत सामाजिक आकांक्षा ही प्रगतिशील साहित्यिक आकांक्षा होती है, इसलिए यह प्रगतिशील साहित्य समाज का अभूतपूर्व समर्थन हासिल कर सकेगा और

तुरत-फुरत में नई सामाजिकता के अंतर्गत नये आदमी का जन्म होगा। मौसम खुशगवार होगा। हुआ नहीं। दलित लेखन को इस बेचैनी से थोड़ा बचना होगा। उसके सामने साहित्य का जो सामाजिक दायित्व है वह इतना इकहरा नहीं है कि उसे तुरत-फुरत पूरा कर लिया जाये। यह आसान काम नहीं है। बारबार इस बात को अपने मन में बिठाते रहना होगा कि मुक्ति अगर हो सकती है तो अखंड-सामाजिकता के वर्ग-संघर्ष से ही हो सकती है। नई वैश्विक परिस्थिति में विकसित नव-दलन के औजार बहुत तीखे हैं। पहचान का आधार वर्ण नहीं हो सकता, नहीं होना चाहिए। इन बुनियादी बातों को स्वीकार करते ही सवर्ण को सवर्ण मानकर किसी प्रकार की प्रतिक्रिया करना तात्त्विक रूप से दलित को दलित मानकर प्रतिक्रिया करने जैसा ही है। अर्थात जिसे हम स्वीकार नहीं करते उसी को अपनाने जैसा है। इस अँधेरी रात में नींद बहुत गहरी है। यह गहरी नींद स्वप्न-भक्षी भी है। इस समय बचे रहने के लिए नींद भी चाहिए और सामाजिक-मुक्ति के सपने भी चाहिए। विखंडित सामाजिकता सामाजिक-मुक्ति का आधार नहीं देती है। इस विखंडन से समाज को बचाना होगा। दलित समस्या को एक सामाजिकता की भीतरी समस्या मानकर उसके प्रतिरोध की चिंता करने की जरूरत है। इसे दो सामाजिकताओं के आपसी टकराव के रूप में ही विकसित किये जाने के निहितस्वार्थी हड़बोंग को समझना होगा। दुश्मन 'अपनों' के रूप में भी होते हैं तो 'परायों' में कभी मित्र भी मिल जाते हैं। शत्रु-मित्र की पहचान एक सरल रेखा पर हो जाया करती तो क्या बात थी! शत्रु-मित्र की पहचान के साथ ही जरूरत एक सकरात्मक एवं निर्मम आत्मनीरीक्षण की है और उससे भी पहले एक सकारात्मक नये आत्म के निर्माण का है। बिना इस आत्म निर्माण के न तो पुरानी गुत्थियाँ खुलेंगी और न नई गुत्थियों के थोपे जाने को ही हम रोक सकेंगे।